International Journal of Leading Research Publication (IJLRP)
E-ISSN: 2582-8010● Website: www.ijlrp.com● Email: editor@ijlrp.com

# भारत छोड़ो आंदोलन की प्रकृति का विश्लेषण

**पवन कुमार[1]**
**डॉ० प्रज्ञान चौधरी[2]**

[1]शोधार्थी
[2]एसोसिएट प्रोफेसर,
इतिहास विभाग
दिगम्बर जैन (पी०जी०) कॉलेज,
बड़ौत (बागपत), उत्तर प्रदेश

भारत छोड़ो आंदोलन, जिसे अगस्त क्रांति भी कहा जाता है, भारतीय जनता की वीरता और लड़ाकूपन की अद्वितीय मिसाल है। उसका दमन भी उतना ही पाशविक और अभूतपूर्व था। जिन परिस्थितियों में यह संघर्ष छेड़ा गया, वैसी प्रतिकूल स्थितियाँ भी राष्ट्रीय आंदोलन में अब तक नहीं आई थीं। युद्ध की आड़ लेकर सरकार ने अपने को सख्त–से सख्त कानूनों से लैस कर लिया था और शांतिपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों को भी प्रतिबंधित कर दिया था।

पहली बात तो यह है मार्च 1942 में क्रिप्स मिशन की विफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश सरकार युद्ध में भारत की अनिच्छुक साझेदारी को तो बरकरार रखना चाहती है, लेकिन किसी सम्मानजनक समझौते के लिए तैयार नहीं थी। नेहरू और गाँधी जैसे लोग भी थे, जो इस फासिस्ट–विरोधी युद्ध को किसी भी तरह कमज़ोर करना नहीं चाहते थे, इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे और अधिक चुप रहना यह स्वीकार कर लेना है कि ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता की इच्छा जाने बिना भारत का भाग्य तय करने का अधिकार है। 'करो या मरो' वाले अपने भाषण में भी गाँधीजी ने साफ–साफ कहा था कि मैं रूस या चीन की हार का औजार बनना नहीं चाहता। लेकिन 1942 के वसंत तक उन्हें लगने लगा था कि संघर्ष अपरिहार्य है। क्रिप्स की वापसी के एक पखवाड़े बाद ही उन्होंने कांग्रेस कार्यसमिति के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया, जिसमें ब्रिटेन को भारत छोड़ने के लिए कहा गया था तथा भारतीय जनता का आह्वान किया गया था कि जापान का हमला हो, तो वह अहिंसक असहयोग करे। नेहरू अगस्त तक संघर्ष के खिलाफ रहे, पर अंततः वे भी सहमत हो गए।

संघर्ष अपरिहार्य इसलिए भी होता जा रहा था कि युद्ध के कारण बढ़ती कीमतों और ज़रूरी वस्तुओं के अभाव से जनसाधारण में बेहद असंतोष था। बंगाल और उड़ीसा की नावों को जापानियों द्वारा उनके संभावित इस्तेमाल को रोकने के लिए सरकार द्वारा ज़ब्त कर लिया गया था, जिससे लोगों को दिक्कत हो रही थी। सिंचाई की नहरों का कहीं जापानी 'जल–परिवहन के लिए इस्तेमाल न कर लें, यह सोचकर नहरों का पानी बहा दिया गया, जिससे खेत सूखने लगे थे। मकानों और मोटर गाड़ियों पर भी सेना ने कब्ज़ा कर लिया था। जनता खुशी–खुशी युद्ध में शमिल होती, तो उसे यह सब नहीं अखरता, लेकिन यहाँ तो सब–कुछ उस पर लादा जा रहा था। साथ ही उसे यह भी लग रहा था कि ब्रिटेन की हार होने वाली है। दक्षिण–पूर्व एशिया से ब्रिटेन हट गया था और असम–बर्मा सीमा से आने वाली रेलगाड़ियाँ घायल सिपाहियों से भरी होती थीं। जब सिंगापुर और रंगून पर फाँसीवादी ताकतों का कब्ज़ा हो गया और कलकत्ता पर बम गिराए जाने लगे तो भगदड़ मच गई। 1942 के जून और जुलाई में 46 लोग जमशेदपुर से भाग गए और पूर्वी यू.पी. तथा बिहार से भागकर 50 हज़ार आदमी कानपुर पहुँचे। मलाया और स्थानीय लोगों को उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया था। भारत के लोग सोचने लग गए थे कि अगर जापानी हमला हुआ तो अँग्रेज़ यहाँ भी उसी तरह विश्वासघात करेंगे। राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं को संघर्ष

छेड़ने की ज़रूरत इसलिए भी महसूस हुई कि लोगों में निराशा फैल रही थी और यह आशा पैदा हो गई थी कि कहीं जापानी हमले का जनता द्वारा कोई प्रतिरोध ही न हो।

धीरे–धीरे ब्रिटिश शासन में जनसाधारण की आस्था इतनी घट गई कि लोग बैंकों और डाकघरों से अपना रुपया निकालने लगे और अपनी बचत को सोने, चांदी और सिक्कों में बदल कर रखने लगे। पूर्वी संयुक्त प्रांत (यू. पी.) और बिहार में अनाज की जमाखोरी इतनी बढ़ गई कि बिहार के राज्यपाल स्टीवार्ट ने सरकार को लिखा कि चावल की कोई कमी नहीं है, पर वह बाज़ार में नहीं आएगा। सरकारी अधिग्रहण से बचने के लिए व्यापारियों ने अपने जखीरों को बैंकों के पास बंधक रख दिया है। पता चला है कि उत्तर बिहार में बैंकों के पास बंधक अनाज उसका तीन गुना है, जितना इस मौसम में सामान्यतः रहता है। यों तो गाँधीजी आने वाले संघर्ष के बारे में चर्चा करते ही आ रहे थे, परन्तु अब देर करना उन्हें गलत लगने लगा था। उन्होंने कांग्रेस को यह चुनौती भी दे डाली कि अगर उसने संघर्ष का उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया तो मैं देश की बालू से ही कांग्रेस से भी बड़ा आंदोलन खड़ा कर दूँगा। नतीज़तन कांग्रेस कार्यसमिति ने वर्धा की अपनी बैठक (14 जुलाई 1942) में संघर्ष के निर्णय को अपनी स्वीकृति दे दी। अगले महीने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक होने वाली थी, जिसमें इस प्रस्ताव का अनुमोदन होना था। ऐतिहासिक सभा बंबई के ग्वालिया टैंक में हुई। जनता का उत्साह देखते ही बनता था। अंदर तो नेता विभिनन मुद्दों पर विचार–विमर्श कर रहे थे और बाहर जनसमुद्र उमड़ रहा था। नेताओं का निर्णय जानने की उत्सुकता इतनी थी कि खुले अधिवेशन में जब भाषण होने लगे, तो हज़ारों–हज़ार की भीड़ होने के बावजूद सभा में पूरी शांति थी।

## विद्रोह का माहौल

बिहार और यू.पी. में तो विद्रोह जैसा माहौल बन गया। अगस्त के समय तक विद्यार्थियों तथा अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं के जरिए आंदोलन की ख़बर गाँवों में पहुँचने लगी। काशी विश्वविद्यालय के छात्रों ने 'भारत छोड़ो' का संदेश फैलाने के लिए गाँवों में जाने का फैसला किया। उनके नारे थे, थाना जलाओ, स्टेशन फूँक दो, अंग्रेज भाग गया इत्यादि। उन्होंने रेलगाड़ियों पर राष्ट्रीय ध्वज फहराया। विद्रोह ने अधिकतर यह रूप धारण किया कि बड़ी संख्या में किसान पास के कस्बें में जुटते और सरकारी सत्ता के सभी प्रतीकों पर हमला बोल देते। कहीं आग लगा दी जाती, कहीं सरकारी अधिकारियों से मुठभेड़ होती। दमन होता, लेकिन इससे जनता का उत्साह कम नहीं हुआ। बिहार के तिरहुत प्रखंड में तो दो सप्ताह तक कोई सरकार ही नहीं थी। सचिवालय गोलीकांड के बाद पटना दो दिन तक बेकाबू रहा। उत्तर और समय बिहार के 80 प्रतिशत थानों पर जनता का राज हो गया था। कुछ स्थानों पर गोरों पर व्यक्तिगत हमला भी हुआ। पूर्वी यू.पी. में आजमगढ़, बलिया और गोरखपुर तथा बिहार में गया, भागलपुर, सारन, पूर्णिया, शाहाबाद, मुजफ्फरपुर और चंपारण स्वतः स्फूर्त जन–विद्रोह के मुख्य केंद्र रहे। सरकारी आकलनों के अनुसार, नेताओं की गिरफ़्तारी के पहले हफ्ते के अंदर 250 रेलवे स्टेशन या तो नष्ट कर दिए गए या क्षतिग्रस्त हुए और 500 से ज़्यादा डाकघरों तथा 150 थानों पर हमला हुआ। पूर्वी यू.पी. और बिहार में रेलगाड़ियों का आवागमन कई हफ्ते तक अस्तव्यस्त रहा। सिर्फ कर्नाटक में टेलीफोन के तार काटने की 1600 घटनाएँ हुईं तथा 28 रेलवे स्टेशनों और 32 डाकघरों पर हमला हुआ। निहत्थी भीड़ ने 532 अवसरों पर पुलिस और सेना की गोलीबारी का सामना किया। यहाँ तक कि हवाई जहाज से मशीनगनें भी चलाई गई। दमन के अन्य रूप थे, सामूहिक जुर्माना कुल 90 लाख रुपए इस तरह वसूल किए गए, संदिग्ध लोगों को कोड़ों से पीटना तथा जिन गाँवों के लोग भाग गए थे, उनमें आग लगा देना। 1942 के अंत तक 60 हजार से अधिक लोगों को गिरफ़्तार किया जा चुका था, लगभग 26 हजार लोगों को सजा हुई, 18 हजार लोगों को भारत रक्षा नियमों के तहत बंद रखा गया। मार्शल लॉ लागू नहीं किया गया था और हालाँकि सेना कहने को नागरिक प्रशासन के तहत काम कर रही थी, पर दरअसल वह मनमानी कर रही थी। दमन उतना ही कठोर था जितना मार्शल लॉ के अंतर्गत हो सकता था। सरकार को जनता के खुले आम विद्रोह पर काबू पाने में छह से सात हफ़्ते लगे। पर इस बीच देश के विभिन्न

हिस्सों में आंदोलन का एक भूमिगत संगठनात्मक ढाँचा भी तैयार हो रहा था। आंदोलन की बागडोर अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, राममनोहर लोहिया, सुचेता कृपलानी, छोटूभाई पुराणिक, बीजू पटनायक, आर.पी. गोयनका और बाद में जेल से निकल भागने के बाद जयप्रकाश नारायण जैसे अखिल भारतीय नेताओं ने फरार रहते हुए सँभाल ली थी। ये लोग पैसा और बम, हथियार, बारूद आदि सामग्री इकट्ठा करते और देश भर में छितराए हुए गुप्त समूहों में बाँटते थे। करना क्या है, इसका निर्णय स्थानीय स्तर पर ही होता था। ये गुप्त समूह या भूमिगत संगठन इन इलाकों में ज्यादा सक्रिय थे। बंबई, पूना, सतारा, बड़ौदा, कर्नाटक, केरल, आंध्रा, यू.पी., बिहार और दिल्ली। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य ही आम तौर पर इन गतिविधियों का नेतृत्व कर रहे थे, पर गाँधीवादी, फॉरवर्ड ब्लॉक के सदस्य तथा अतिवादी भी काफी संख्या में सक्रिय थे।

भूमिगत कार्रवाईयों में संलग्न लोगों की संख्या बेशक कम थी, पर उन्हें व्यापक सहयोग मिल रहा था। व्यवसायी वर्ग ने अपनी थैलियाँ खोल दी थीं। उदाहरण के लिए सुमति मोरारजी ने, जो बाद में देश की प्रमुख महिला उद्योगपति बनीं, अच्युत पटवर्धन के लिए रोज एक नई कार की व्यवस्था की और गिरफ्तारी होने से बचाया। बहुत–से लोगों ने भूमिगत नेताओं को छिपने की जगह दी। छात्र खबर और परचे ले जाने का काम करते थे। पाइलट और रेल ड्राइवर बम तथा अन्य सामान इधर से उधर पहुँचाते थे। सरकारी अधिकारी और पुलिस वाले तक गिरफ्तारियों की अग्रिम सूची दे दिया करते थे। इस भूमिगत आंदोलन की मुख्य गतिविधि यह होती थी कि पुलों को उड़ाकर, टेलीग्राफ व टेलीफोन के तार काटकर तथा रेलों की पटरी उखाड़कर संचार के सामान नष्ट कर दिए जाएँ। सरकारी और पुलिस अधिकारियों तथा पुलिस के मुखबिरों पर भी कहीं–कहीं हमले हुए। यह सच है कि संचार के माध्यमों को नष्ट करने में आंदोलनकारियों को सीमित सफलता ही मिली होगी, पर ऐसे वक्त में जब सरकार बर्बर दमन पर उतारू थी और खुले–आम राजनीतिक गतिविधियों को असंभव बना दिया गया था, इन कार्रवाइयों से जनता का मनोबल बरकरार रखा गया।

## भारत छोड़ो आंदोलन की प्रकृति

इतिहासकारों ने मुख्यतः दो दृष्टियों से विचार किया है। पहला, क्या यह स्वतःस्फूर्त विद्रोह था या कोई संगठित चेष्टा थी? दूसरा, इस संघर्ष के दौरान जनता ने जो हिसा की, उसकी संगति अहिंसक लड़ाई की कांग्रेस नीति से कैसे बैठाई जाए? इसमें संदेह नहीं कि पूर्ववर्ती आंदोलनों की तुलना में 1942 के आंदोलन में स्वतःस्फूर्तता का तत्व कहीं ज्यादा था, यद्यपि 1919–22, 1930–31 और 1931–32 में भी कांग्रेस नेतृत्व ने जनता की पहल और स्वतःस्फूर्त उभारों के लिए काफी गुंजाइश छोड़ी थी। वस्तुतः गाँधीवादी जनांदोलन का पैटर्न यह था कि नेतृत्व कार्यक्रम की मोटे तौर पर रूपरेखा बना देता और उसका कार्यान्वयन स्थानीय स्तर के कार्यकर्ताओं तथा जनसाधारण के हाथ में छोड़ दिया जाता था। वैसे भी, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान हुए किसी एक संघर्ष की तैयारी का अनुमान उसी समय किए गए संगठनात्मक कार्यों से नहीं लगाया जा सकता। इसके लिए पूरे राष्ट्रीय आंदोलन का जनता पर कितना प्रभाव हुआ है, उसको कितना समर्थन मिला है, उसका अनुमान लगाना जरूरी है।

यह सच है कि 1942 में यह रूपरेखा भी स्पष्ट नहीं की गई थी, क्योंकि नेतृत्व को आंदोलन छेड़ने का अवसर ही नहीं मिला। लेकिन जनता ने अपनी तरफ से जो पहल की, उसकी स्वीकृति नेतृत्व एक तरह से दे चुका था। 8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा पारित प्रस्ताव में साफ–साफ कहा गया था कि एक ऐसा समय आ सकता है, जब निर्देश जारी करना संभव न हो सके या निर्देश लोगों तक पहुँच ही न सके या कोई कांग्रेस समिति कार्य न कर सके। अगर ऐसा होता है, तो प्रत्येक पुरुष और स्त्री को, जो इस आंदोलन में भाग ले रहा है, जारी किए गए निर्देशों के भीतर अपने काम का खुद ही फैसला करना होगा। हर भारतीय को, जो आजादी चाहता है और उसके लिए प्रयत्नशील है, अपना मार्गदर्शक खुद बनना होगा।,

इसके अलावा कांग्रेस इस संघर्ष के लिए काफी पहले से तैयारी करती आ रही थी। 1937 के बाद कांग्रेस संगठन को चुस्त किया गया। पूर्वी यू.पी. और बिहार के अपने अध्ययन में चंदन मित्रा ने स्पष्ट किया है कि 1942 के दौरान वहीं सबसे अधिक प्रतिरोध हुआ, जहाँ 1937 के बाद से जन–जागृति और संगठन का व्यवस्थित कार्य हुआ था। सरदार पटेल जून 1942 से ही बारदोली और गुजरात के अन्य इलाकों में लोगों को आने वाले संघर्ष के बारे में चेतावनी दे रहे थे। पूना के कांग्रेसी समाजवादी भी तभी से कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण शिविर लगा रहे थे। गाँधीजी खुद भी व्यक्तिगत सत्याग्रह के जरिए तथा 1942 की शुरुआत से सीधे तौर पर लोगों को आसन्न युद्ध के लिए तैयार कर रहे थे। उनका कहना था कि यह लड़ाई थोड़े समय तक ही चलेगी, पर तेज होगी।

अब रहा सवाल कि 1942 की हिसा की संगति कांग्रेस की अहिंसक नीति से कैसे बैठाई जाए? पहली बात तो यह कि ऐसे बहुत–से लोग थे, जिन्होंने इस आंदोलन के दौरान भी हिसा का सहारा लेने से इनकार कर दिया। जिन लोगों ने हिसक साधनों का प्रयोग किया, उनमें से बहुतों का मानना था कि परिस्थिति की यही माँग थी, उनमें से अनेक निष्ठावान गाँधीवादी भी थे। कुछ का तर्क था कि टेलीग्राफ के तारों का काटना या पुलों को उड़ा देना या रेल की पटरियाँ उखाड़ फेंकना तब तक अनुचित नहीं है, जब तक इनसे किसी की जान को ख़तरा नहीं पहुँचता। कुछ ने यह कहकर साफगोई दिखाई है कि उनका हिंसा में विश्वास नहीं था, फिर भी उन्होंने हिंसा की। गाँधीजी ने खुद 1942 में हिंसा की निंदा करने से इनकार कर दिया था। उनका कहना था कि यह सत्ता की बड़ी हिंसा का जवाब था। नैंसिस हचिंस का मानना है कि हिंसा पर गाँधीजी की ज्यादा आपत्ति इसलिए थी कि इससे जन–भागीदारी घटती थी, लेकिन 1942 में गाँधीजी ने पाया कि इस बार स्थिति ऐसी नहीं है। इस ऐतिहासिक आंदोलन की एक बड़ी ख़ूबी यह रही कि इसके द्वारा आजादी की माँग राष्ट्रीय आंदोलन की पहली माँग बन गई। 'भारत छोड़ो' के बाद अब पीछे नहीं मुड़ा जा सकता था। ब्रिटिश सरकार से भविष्य में जो भी बातचीत होनी थी, उसमें सत्ता के हस्तांतरण का सवाल आना ही था और इस सवाल पर कोई मोलभाव नहीं किया जा सकता था, जैसा कि युद्ध के बाद स्पष्ट भी हो गया।

गाँधी जी को बीमारी के आधार पर 6 मई 1944 को रिहा कर दिया गया और इसके साथ ही राजनीतिक गतिविधियों में गरमी आ गई। रचनात्मक कार्य इस समय कांग्रेस की मुख्य गतिविधि में थे। कांग्रेस मशीनरी को पुनर्गठित करने पर भी विशेष ध्यान दिया गया। कांग्रेस वर्कर्स एसेंबली या रिप्रेजेंटेटिव एसेंबली ऑफ कांग्रेस आदि विभिन्न नामों से कांग्रेस समितियों को पुनर्जीवित किया गया। इससे कांग्रेस पर लगा प्रतिबंध अपने आप प्रभावहीन हो गया। कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण सदस्यता अभियान तथा कोष संग्रह का काम भी शुरू किया गया। कांग्रेस के रचनात्मक कामों को सरकार संदेह की नजर से देखती थी। उसे भय था कि यह सब अगले संघर्ष की तैयारी का हिस्सा है। अतः इन कामों पर भी कड़ी नजर रखी जाती थी, हालाँकि दमन का रास्ता नहीं अख्तियार किया गया। सरकार एक ऐसा प्रस्ताव लाने की भी कोशिश कर रही थी, जिससे संघर्ष के इस दूसरे दौर को रोका जा सके, इसे वेवल प्रस्ताव या 'शिमला सम्मेलन' कहा जाता है। शिमला सम्मेलन जून 1945 में हुआ और उसके पहले सभी प्रमुख कांग्रेस नेताओं को रिहा किया जा चुका था। इस तरह मुठभेड़ का वह दौर समाप्त हुआ, जो अगस्त 1942 से चल रहा था।

**संदर्भ–**

1. सरकार, जगन्नाथ, इंडियाज फ्रीडम स्ट्रगल – सेवरल स्ट्रीम्स पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1986, पृष्ठ 94
2. अय्यर, एस. पी. (सं.), भारत में जन हिंसा की राजनीति, पी. सी. मनक्तला एंड संस, बॉम्बे, 1967, पृष्ठ 74
3. फ्रांसिस जी. हचिन्स, स्पॉन्टेनियस रिवोल्यूशन : द क्विट इंडिया मूवमेंट, मनोहर बुक्स, नई दिल्ली, 1971, पृष्ठ 98

4. बक्शी, राकेश रंजन, उत्तर प्रदेश में भारत छोड़ो आंदोलन : तोड़फोड़, बम और षड्यंत्र मामले, एन.पी. पब्लिशर्स, सीतापुर, 1992
5. बक्शी, एस.आर., कांग्रेस और भारत छोड़ो आंदोलन, क्राइटेरियन पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1986
6. भुयान, अरुण चंद्र, भारत छोड़ो आंदोलन, द्वितीय विश्व युद्ध और भारतीय राष्ट्रवाद, मानस प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975
7. चक्रवर्ती, विद्युत, मिदनापुर (1919–1944) : स्थानीय राजनीति और भारतीय राष्ट्रवाद, मनोहर, नई दिल्ली, 1997
8. चक्रवर्ती, शची, भारत छोड़ो आंदोलन : एक अध्ययन, न्यू सेंचुरी प्रकाशन दिल्ली, 2002